स्नातक- II हिन्दी प्रतिष्ठा
हिन्दी साहित्य का इतिहास

— चंद्रेश्वर प्रसाद सिंह
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
अल-हफ़ीज़ कॉलेज, आरा

रीति का अभिप्राय —

'रीति' का कोशगत अर्थ है गमन प्रणाली, जिससे जाया जाए या गतिशील हुआ जाए। "रीयते गम्यतेऽनेन इति रीतिः।" संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त 'रीति' शब्द का अर्थ है — काव्य-रचना की विशेष पद्धति अथवा मार्ग। आचार्य वामन प्रवर्तित 'रीति' को कालान्तर में परवर्ती आचार्यों ने वृत्ति और संघटना से जोड़ दिया। तदनुसार रीति का तात्पर्य विशेष पद-संघटना-पद्धति हुआ। पद-संघटना अथवा बनावट में ही कविता का सारा सौंदर्य निहित माना गया और रस, गुण, अलंकार आदि का इसी में समावेश बताया गया। इसीलिए संस्कृत काव्यशास्त्र में 'रीतिरात्मा काव्यस्य' — अर्थात् रीति ही काव्य की आत्मा है — कहकर रीति का महत्त्व-प्रतिपादन किया गया है।

हिन्दी साहित्य में भी 'रीति' के उपर्युक्त अर्थ को ही ग्रहण किया गया है। यह भी उल्लेखनीय है कि रचना-पद्धति की विशिष्टता या बनावट जब अन्य लोगों या परवर्ती कवियों के अनुसरण का विषय हो जाती है तो रचना-पद्धति स्वतः एक मार्ग बन जाती है — संप्रदाय अथवा परंपरा का रूप ले लेती है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि जिस काव्य की रचना विशेष पद्धति अथवा नियमों को ध्यान में रखकर की गयी हो, वह 'रीति काव्य' और जिस काल में इस बंधी-बंधायी परिपाटी का पालन बहुसंख्य कवियों द्वारा किया गया हो, वह रीतिकाल कहलाता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह उत्तर मध्यकाल का काव्य है। इस काल के अनेक कवियों ने काव्य-रचना-पद्धति को रीति, पंथ अथवा मार्ग की संज्ञा से अभिहित किया है।

जैसे —

1. चिन्तामणि — <u>रीति</u> सुभाषा कवित की बरनत बुध अनुसार।
2. भूषण — सुकविन हू की कछू कृपा समुझि कविन को <u>पंथ</u>।
3. देव — भाषा प्राकृत संस्कृत देखि महाकवि <u>पंथ</u>।

→

सीमांकन एवं नामकरण का औचित्य —

साहित्य के इतिहास में सीमांकन का आधार युग-विशेष की काव्य-प्रवृत्तियाँ होती हैं। ये काव्य-प्रवृत्तियाँ ऐतिहासिक घटनाओं की तरह किसी निश्चित तारीख से न तो शुरू होती हैं और न ही किसी निश्चित तारीख को खत्म होती हैं। इसलिए सीमांकन में 10-20 वर्षों का अन्तर होना स्वाभाविक है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन और नामकरण का पहला गंभीर प्रयास करनेवाले आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रीतिकाल का सीमांकन संवत् 1700 (1643 ई०) से लेकर संवत् 1900 (1843 ई०) के बीच किया है। परवर्ती इतिहासकारों ने किंचित परिवर्तनों के साथ इसे स्वीकार कर लिया है। आचार्य शुक्ल द्वारा प्रस्तुत किया गया सीमांकन मोटे तौर पर ही ठीक है, क्योंकि कुछ रीतिकालीन कवि इस सीमांकन की परिधि में नहीं आते। वे 10-15 वर्ष पहले या 10-15 बाद के ठहरते हैं। उदाहरण के लिए केशवदास का आविर्भाव भक्तिकाल में हो गया था, किन्तु काव्य-प्रवृत्ति की दृष्टि से वे रीतिकाल के प्रवर्तक माने जाते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीति-निरूपण की प्रधानता को ध्यान में रखते हुए रीतिकाल की समय-सीमा निर्धारित की थी। प्रवृत्ति के विवेचन-विश्लेषण के लिए इससे एक आधार मिल जाता है। इसके बावजूद इसे ज्यों का त्यों स्वीकार करना उचित नहीं प्रतीत होता। रीतिकालीन ग्रंथों में कुछ इन संवतों के आगे-पीछे रचे गये हैं। जैसे चिन्तामणि कृत 'रस-विलास' तथा मतिराम कृत 'रसराज' संवत् 1700 (1643 ई०) से 10 वर्ष पूर्व की रचनाएँ हैं। इसी तरह कवि ग्वाल की रचना 'रसरंग' संवत् 1900 (1843 ई०) से 15 वर्ष बाद की मानी जाती है। यही कारण है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ० नगेन्द्र ने उपर्युक्त सीमांकन में किंचित परिवर्तन किये हैं। डॉ० गणपति चंद्र गुप्त ने भी इस सीमांकन पर आपत्ति प्रकट की है। अतएव तमाम संशोधनों को देखते हुए हमें रीतिकाल की समय-सीमा सत्रहवीं शती के मध्य से उन्नीसवीं शती के मध्य तक निर्धारित करना उचित प्रतीत होता है।

इस सीमांकन के साथ-साथ रीतिकाल का प्रथम कवि कौन है? — का प्रश्न भी काफी विचारणीय रहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल का सम्यक विवेचन करते हुए केशवदास को रीतिकाल का

→

प्रवर्तक कवि माना है, किंतु सर्वांग निरूपक रीतिकालीन कवियों में पहला स्थान चिन्तामणि को प्रदान किया है। इसीलिए यह विषय विवादग्रस्त हो गया है। यों तो केशवदास के पूर्व कृपाराम ने 'हित तरंगिनी' नामक ग्रंथ की रचना कवियों के शिक्षार्थ लिखी थी, किन्तु उनके रचनाकाल में भक्ति की अविरल धारा प्रवहमान थी। दूसरी बात यह भी है कि कृपाराम सर्वांग निरूपक कवि नहीं थे। हाँ, रीतिग्रंथों की शृंखला में पहली कड़ी अवश्य थे। केशवदास का आचार्यत्व तो असंदिग्ध है, किन्तु विद्वानों की धारणा है कि उनमें मौलिकता का अभाव है तथा उनकी निरूपण शैली में जटिलता का प्रदर्शन अधिक है। उनके पाण्डित्य-प्रदर्शन से काव्य-लय कुंठित हुई है। दुर्बोधता और भावों की दुरूहता के कारण ये 'कठिन काव्य के प्रेत' कहे जाते हैं। कालक्रम की दृष्टि से भी वे भक्तिकाल के कवि ठहरते हैं। चिंतामणि का रचना-काल रीतिकाल के आस-पास है। उनके समय से रीतिकाव्य-धारा की व्यवस्थित शुरुआत मानी जाती है। वे सर्वांग निरूपक आचार्य कवि थे। आचार्यत्व और कवित्व—दोनों दृष्टियों से उनका स्थान गौरवपूर्ण है। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि प्रेरक और आदि आचार्य की दृष्टि से केशवदास तथा रचनाकाल और सर्वांग निरूपक की दृष्टि से चिन्तामणि रीतिकाल के प्रवर्तक हैं। आचार्य शुक्ल के विवेचन से भी इसकी पुष्टि होती है कि रीतिकाल के वास्तविक प्रवर्तक चिन्तामणि थे।

जहाँ तक नामकरण का प्रश्न है, उपर्युक्त कालावधि—17वीं शती के मध्य से 19वीं शती के मध्य तक विशेष रचना-पद्धति की रचनाएँ हुईं। व्यापक रूप से रीतिनिरूपण की प्रवृत्ति दिखायी पड़ी। इसी आधार पर आचार्य शुक्ल ने इसे 'रीतिकाल' की संज्ञा से अभिहित किया। मिश्रबंधुओं ने इस काल को 'अलंकृत काल' कहा और अलंकार को विविध काव्यांगों का बोधक मान लिया। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे शृंगार काल कहना उचित माना क्योंकि शृंगार की प्रवृत्ति कमोबेश हर प्रकार के कवियों में रही। जिन लोगों ने शास्त्रीय लक्षणों को स्पष्ट करने के लिए कविताएँ लिखीं उन्होंने भी उदाहरण शृंगार रस के ही दिये। रीतिमुक्त अथवा स्वच्छंद कवियों — घनानंद, बोधा, आलम आदि ने भी संयोग और वियोग शृंगार की अनुभूतियों को अभिव्यक्त दी। इसलिए शृंगार की व्यापकता रीति से अधिक दिखायी पड़ती है। आचार्य शुक्ल ने भी इसे लक्षित करते हुए लिखा था कि रस की दृष्टि से कोई चाहे तो इसे शृंगार काल भी कह सकता है।

→

मिश्रबंधुओं द्वारा किये गये नामकरण — अलंकृत काल को समीचीन नहीं कहा जा सकता। इसका प्रमुख कारण यह है कि भले ही संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकार विविध काव्यांगों का बोधक हो; हिन्दी में विशेष काव्यांग के लिए ही रूढ़ है अर्थात् कविता का बाह्य शोभाकारक धर्म ही माना जाता है। दूसरी बात यह है कि यदि संस्कृत की तरह इसे व्यापक अर्थों में ग्रहण कर लिया जाय तो अलंकृत शब्द एक विशेषण की तरह कविता के लिए प्रयुक्त हो सकता है, लक्षण ग्रंथों के लिए नहीं। अतः 'अलंकृत काल' नामकरण में अव्याप्ति दोष है। यही दोष 'श्रृंगार काल'- नामकरण में भी है। इसके दो कारण निम्नलिखित हैं :—

पहला कारण है कि इस युग के कवियों की प्रेरक शक्ति या तो अर्थ है या कवि-शिक्षा। दूसरे शब्दों में ये कवि या तो अन्य कवियों को शिक्षित करने के उद्देश्य से लक्षण-ग्रंथों की रचना करते थे अथवा आश्रयदाताओं को प्रसन्न कर उनसे अर्थ-प्राप्ति के लिए करते थे। इसके लिए वे सुबोध निरूपण और सरस उदाहरण पर बल देते थे। इस तरह श्रृंगार उनकी मूल प्रवृत्ति नहीं थी। यही नहीं, गोप, रसरूप, सेनादास आदि कवियों ने अपने लक्षण-ग्रंथों में श्रृंगार का बहिष्कार भी किया है। 'श्रृंगार काल' — नामकरण में दूसरा दोष यह है कि वीर, भक्ति, नीति आदि श्रृंगारेतर विषयों पर लिखनेवाले कवि इसकी परिधि से बाहर हो जाते हैं। दरिया दास, पलटू साहब, शिवनारायण, वृन्द, गिरिधर राम आदि ऐसे ही कवि हैं।

'रीतिकाल' के नामकरण के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि यह पूर्वोक्त दोनों नामकरणों से अधिक संगत व समीचीन है। पहली बात यह है कि इस काल के अधिकांश ग्रंथ रीति सम्बन्धी हैं। अर्थात मूल प्रवृत्ति रीति ही ठहरती है। यदि श्रृंगारिक छंद मिलते भी हैं तो वे स्वतंत्र रूप से रचित नहीं हैं। वे रीति-निरूपण को सुबोध बनाने या सरस उदाहरण से युक्त करने के लिए आये हैं। इसके अतिरिक्त श्रृंगार के इतर अन्य रस भी इसकी परिसीमा में आ जाते हैं। रीतिकाल में आचार्य कवियों के प्रति बहुत सम्मान था। वे संस्कृत की पृष्ठभूमि पर अवस्थित थे। संस्कृत में 'रीति' का प्रयोग व्यापक अर्थों में किया गया था। उसमें सभी काव्यांगों का बोध होता था। ~~उसके~~ काव्य सम्बन्धी सारे नियमों-विधानों को समग्रतः 'रीति' का नाम दे दिया गया था। इस दृष्टि से 'रीतिकाल'— नामकरण सार्थक और संगत है।

खुशी
27/8/21